

वाला लगता है। यह कहना कि कांग्रेस के अभियानों को व्यापक जन समर्थन हासिल था, कांग्रेस द्वारा किए गए सांगठनिक प्रयासों की अनदेखी करना होगा जब कि इन्हीं प्रयासों की वजह से विदेशी कपड़ों की बिक्री कम हुई और खादी का प्रचार-प्रसार हुआ। ऐसा लगता है कि कपड़ा व्यापारियों और विभिन्न जिला कांग्रेस समितियों के बीच में जो तरह-तरह के कार्यकलाप हुए, उन पर पर्दा डाल दिया गया है। चुनौतियाँ तो वामपंथी धड़े, जैसे कि बिहार सोशलिस्ट पार्टी की तरफ से भी आ रही थी।

हाँ! यह सही है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन 1920 के आंदोलन के मुकाबले निश्चित ही मूलगामीपन (रैडीकलिज्म) बढ़ा। पर साथ ही यह कोई दो टूक सफलता भी नहीं था। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्पष्ट आभाव था, इसमें मजदूरों की कोई बड़ी भागीदारी नहीं रही और पढ़ा-लिखा तबका उस तरह शामिल नहीं हुआ जैसा पहले हुआ था।

सन्दर्भ सूची :

1. लो, डेविड ए. इंट्रोडक्शन टू साउथिंग्स इन मॉडर्न साउथ एशियन हिस्ट्री, निकोलसन, लंदन, 1968, पृ. 1
2. उपरोक्त, पृ.125
3. और ब्यौरों के लिए देखें वांधोपाध्याय, शेखर पलासी से विभाजन तक, ओरियंट लॉगमैन, हैदराबाद, 2007, पृ. 310-311.
4. उपरोक्त.
5. उपरोक्त, पृ. 313.
6. कुमार, रवींदर, एस्से इन द सोशल हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983, पृ.26-31.
7. सरकार, सुमित, मार्डन इंडिया, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1983, पृ. 174 में उद्धृत.
8. उपरोक्त.

अंगसूत्रों में आचार व्यवस्था

डॉ. चुमचुम कुमारी*

जैन वाङ्मय की धारा सदैव 'जीव' सापेक्ष ही प्रवाहित रही है। सात तत्त्व, पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, नवपदार्थ सभी में जीव तत्त्व को ही प्राथमिकता दी गई है। जैन दर्शन की आधारशिला ही जीव तत्त्व है। बंधनयुक्त जीव ही संसार और बंधन मुक्त जीव ही सिद्ध है। जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व जैन दर्शन मान्य करता है।¹ इसमें भी प्राधान्य जीव तत्त्व का ही है। क्योंकि दृश्यमान अजीव तत्त्व जीव तत्त्व का ही कलेवर है, ऐसा स्पष्ट मन्तव्य है। यद्यपि इन दो तत्त्वों को प्रमुखता दी गई है, तदपि जीव-तत्त्व ही इस दर्शन का केन्द्र बिन्दु रहा है। जीव और अजीव तत्त्व की मिश्रावस्था ही, इस संसार का हेतु है। अजीव संलग्न जीव ही संसरण करता है, भ्रमण करता है।

वस्तुतः जीव तत्त्व है भी या नहीं? जीव है तो कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? उसका लक्षण क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्न दार्शनिक चिन्तन के विषय सदैव से रहे हैं। चिन्तक-धरा पर प्रस्फुटित होते रहे हैं। द्वादशाङ्गी के प्रथम अंग सूत्र 'आचार' में जीव-अस्तित्व, जीव सिद्धि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जीव को आत्मा, चैतन्य आदि अभिधानों से भी उल्लिखित किया गया है। 'जीव-सिद्धि' इस तथ्य की प्रमाणिकता इससे 'अस्तित्वाद' के चार अंगों की स्वीकृति द्वारा होती है, आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।² इसी तथ्य की पुष्टि 'सूत्रकृताङ्ग' के द्वितीय अंग सूत्र में भी है, लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं है ऐसी संज्ञा मत रखो, किन्तु ये सब है। ऐसा संज्ञा रखो।³

आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी किसे कहा जाए? जो आत्म स्वरूप को समझ लेता है वही सच्चा आत्मवादी है। जो आत्मवादी है वही सच्चा लोकवादी है। जो आत्मा और लोक के स्वरूप को जानता है वही कर्मवादी है और जो कर्मवादी है वही क्रिया करतने से क्रियावादी होता है।

आचाराङ्ग के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा या जीव का अस्तित्व है या नहीं? जिसने आत्म स्वरूप को जाना है, वही लोक को भी जान पाता है। वही कर्म और क्रिया में भी पूर्ण निष्ठा के साथ तत्पर होता है। आत्मज्ञान मात्र यहाँ पर्याप्त नहीं है, तदनुसार लोक में कर्म और कर्मानुसारी क्रिया भी यहाँ

*पकड़ी चौक, आरा

महत्त्वपूर्ण है। यह सूत्र जैन दर्शन पर 'अकर्मण्यता' के आरोप का भी निराकरण करता है। साथ ही जो दर्शन आत्मा को सर्वव्यापी, नित्य, क्षणिक, अकर्ता मानते हैं, उनका भी निरसन करता है।

अन्य दर्शनों ने किसी ने आत्मवाद को, तो किसी ने लोकवाद को महत्त्वपूर्ण बताया। किसी ने कर्म को तो किसी ने क्रिया को प्राथमिकता दी। वहाँ जैन विचार अनेकान्तवाद पर आधारित होने से आत्मवाद के साथ लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद को भी ग्रहण करती है। जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है, वह लोक कर्म और क्रिया से उपर नहीं हो सकता। एकान्त आत्मवाद, एकान्त लोकवाद, एकान्त कर्मवाद एवं एकान्त क्रियावाद का यहाँ निषेध किया गया है। लोकस्थिति जीवात्मा कर्म हेतु करता ही है। कर्म समारंभ हेतु क्रिया अनिवार्य है। इसीलिए "मैंने किया, मैंने करवाया और करते हुए अन्य को अनुमोदन दूंगा, लोक में इतनी ही कर्मबंध की हेतुरूप क्रियाएँ समझनी चाहिए।" ऐसा उल्लिखित है। जीव को कर्म हेतु क्रिया का इसमें निश्चय होता है। वस्तुतः एकान्त पक्ष मिथ्या है, समन्वित अनेकान्तवाद वस्तु-स्वरूप का सच्चा ज्ञान कराने में सहायक है।

स्पष्ट है कि जैन दर्शन की भित्ति आत्मवाद पर अधिष्ठित है। इस आत्मवाद के प्रश्नको दर्शन की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि आत्मा सापेक्ष दृष्टि भारतीय चिन्तकों की रही है। इसी जिज्ञासा की झलक आचाराङ्ग में स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है। इसमें उल्लेख है, "इस संसार में एक-एक जीव को यह ज्ञान नहीं होता कि दिशा-विदिशाओं में संचरणशील कौन है? आत्मा का पुनर्जन्म होता है या नहीं? मैं कौन था और यहाँ से चलकर परलोक में कहाँ जाऊँगा?"⁵ फिर भी कोई जीव अपनी विशिष्ट जातिस्मरणादि ज्ञानयुक्त बुद्धि से अथवा तीर्थङ्कर के कहने से या अन्य उपदेशकों से सुनकर वह जान लेता है कि दिशा विदिशाओं में गमन करनेवाला, भवान्तर में संरचरण करने वाला मैं हूँ।⁶

जो दर्शन आत्मा को सर्वव्यापी, नित्य, क्षणिक, और अकर्ता मानते हैं, उसके मन में आत्मा का भवान्तर में संक्रमण सिद्ध नहीं हो पाता। न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं।⁷ सर्व व्यापकत्व मानने पर जीव का भवान्तर में संक्रमण असिद्ध हो जाता है। उसमें कोई क्रिया भी घटित नहीं हो सकती। जब क्रिया का ही अभाव है, तो इहलोक और परलोक की व्यवस्था की संगति नहीं हो सकेगी। शुभा-शुभ कर्मों का फलानुभाव नहीं हो सकेगा।

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य के रूप में स्वीकार करता है।⁸ कूटस्थनित्यता मानने पर अनित्य पक्ष को हानि पहुँचती है। इससे भी भवान्तर संक्रान्ति, लोक व्यवस्था, कर्म एवं क्रिया की निष्ठा नहीं हो सकेगी। क्योंकि नित्य उसे कहा

है जो 'अप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरेक स्वभाव नित्यम्' जो कभी नष्ट न हो, उत्पन्न न हो, एक स्वभाव में स्थिर रहे वह नित्य है। इस प्रकार आत्म-नित्यत्व स्वीकार करने पर नवीन शरीर का धारण करना पूर्व शरीर का त्याग नहीं हो सकेगा। जब जन्म मरण घटित नहीं होगा तो कर्म और क्रिया की व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यहाँ आत्मा की कूटस्थ नित्यता और निराकृत करके बौद्ध-दर्शन सम्मत क्षणभंगवाद पर आत्मस्थिति का स्थापन भी अमान्य किया है। बौद्ध मतानुसार प्रत्येक प्रदार्थ क्षणमात्र अवस्थित रहता है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। यदि आत्मा की क्षणमात्र स्थिति व निरन्वयनाश माना जाय तो इहलोक परलोक, पुनर्जन्म तथा उसका अनुसन्धात्मक ज्ञान भी नहीं हो पावेगा।⁹ क्षणिक स्थिति में क्रिया भी संभवित नहीं है क्योंकि दूसरे क्षण में तो नाश हो जायेगा। अतः क्रियाकाल का अवकाश भी नहीं है। क्रिया कारिता के पश्चात् फल प्राप्ति भी उसे नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रथम क्षण में वह क्रिया करेगा, उसका फल अवान्तर क्षण में मिल सकेगा। जब कि दूसरा क्षण भी नष्ट हो जाने से उसका भोक्ता भी कौन होगा? इस संगति में कृतनाश और अकृतफल के दोष की संभावना रहेगी। क्योंकि कर्ता कोई और भोक्ता कोई और होगा। अतः आत्मा का सर्वथा क्षणिक न मानकर परिणामी नित्य मान्य क्रिया है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कर्ता न मानकर भोक्ता मान्य करता है।¹⁰ जब स्वयं वह कर्ता नहीं तो भोक्ता भी कैसे हो सकता है? अकर्ता मानने पर भोक्ता मानना योग्य नहीं है और जब भोक्ता नहीं तो जन्ममरण, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, इहलोक परलोक गमन भी संभव नहीं हो पावेगा। इसी से यहाँ कर्मवाद और क्रियावाद भी पुष्ट होता है। क्योंकि शुभाशुभ क्रिया की ओर कर्मवादी प्रेरित होता है। शुभ कार्यों में प्रवृत्ति और अशुभ कार्यों से निवृत्ति कर्मवादी करता है। यहाँ इस सूत्र में आत्मा के अस्तित्व के साथ कर्मबंध का भी विचार किया गया है।

आत्मा अनेकत्व की विचारणा का इसमें कथन है कि 'सति पाणा पुढो सिया'।¹¹ अर्थात् सभी प्राणी पृथक् पृथक् रूप से रहे हुए हैं। जबकि अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यावस्थित।¹² अर्थात् स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है। आचाराङ्ग में यहाँ इस मत का खंडन करते हुए उल्लेख है कि प्रत्येक प्राणी में पृथक् पृथक् आत्मा अस्तित्व है। जबकि वेदान्त दर्शनानुसार तो ब्रह्म अर्थात् जीव एक ही है वही अंश सर्व भूतों में विद्यमान है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इनको एकेन्द्रिय प्राणी मानकर जीव सत्ता का निर्देश करते हुए कथन है कि पृथ्वीकाय,¹³ अपकाय,¹⁴ तेकाय,¹⁵ वायुकाय¹⁶ और वनस्पतिकायादि¹⁷ जीवों का अपलाप नहीं करना

चाहिये तथैव आत्मा का भी अपलाप नहीं करना चाहिए। जो इनकी सजीवता में शंकाशील होकर अपलाप करता है, वह आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करता है। जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है वह इनकी सचेतनता का अपलाप करता है।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार हमें अपने आत्म-अस्तित्व का बोध होता है, उसी प्रकार इन षड् निकाय के जीवों को अस्तित्व व उनकी सचेतनता का बोध होता है।

इन पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना का अनुभव कैसे होता है? ऐसा पूछने पर समाधान किया गया है कि, 'जैसे जन्म से अन्धे, बहरे, लूले, लँगड़े तथा अवयवहीन किसी व्यक्ति के कोई भालादि द्वारा पाँव, टखने, पिण्डी, घुटने, जंघा, कमर, नाभि, पेट, पांसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धा, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, गर्दन, दाढ़ी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गाल, कान, आँख, भौंह, ललाट, मस्तक इत्यादि अवयव छेदे तो उस अन्ध बधिर को वेदना होने पर वह व्यक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार एकेन्द्रित पृथ्वीकाय के जीवों को अव्यक्त वेदना होती है। जैसे कोई मनुष्य पर सहसा प्रहार कर उसे मूर्च्छित करके फिर मार डाले तो मूर्च्छावस्था में उसे पीड़ा होती है, वैसे ही पृथ्वीकाय की वेदना समझनी चाहिए।'¹⁸

कर्ण, नासिक आदि इन्द्रियों से रहित ये जीव वेदना का अनुभव मूर्च्छितावस्था की भांति करते हैं। यद्यपि इन्द्रियाभाव के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते, फिर भी उनका अनुभव तो होता ही है। इसी भांति अप्काय, तेजस्, कायादि जीवों की अनुभूति अव्यक्त रूप से होती है।

अप्काय के जीव को सजीव मानना यह जैन दर्शन की मौलिकता है। भगवान् महावीर के काल में अन्य दार्शनिक जल को सजीव नहीं मानते थे, किन्तु तदाश्रित अन्य जीवों की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय, आरण्यक में 'वर्षा' को जल का गर्भ माना है और जल को 'प्रजननशक्ति' के रूप में स्वीकार किया गया है। 'प्रजनन क्षमता' सचेतन में ही होती है। अतः सचेतन होने की धारणा का प्रभाव वैदिक चिन्तन पर पड़ा है, ऐसा माना जा सकता है।¹⁹ किन्तु मूलतः अणुगार दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जल की सचेतन नहीं मानते थे। इसी कारण यहाँ आचाराङ्ग सूत्र में दोनों तथ्यों को स्पष्ट किया है। 1. जल सचेतन है, 2. तदाश्रित अनेक छोटे बड़े जीव रहते हैं।²⁰ इस प्रकार जल को सचेतन मानकर उसमें जीव अस्तित्व सिद्ध किया है।

जिस प्रकार पृथ्वी, पानी में जीव-सत्ता को मान्य किया है, उसी प्रकार तेउकाय-तेजस् काय में भी चेतना मानकर जैन दर्शन में अग्नि को जीव माना है। भवान् महावीर कालीन धर्म परम्पराओं में जल तथा अग्नि दोनों को देवता मानकर पूजा जाता था, किन्तु उसकी हिंसा का विचार नहीं किया गया था। जल से शुद्धि

और पंचाग्नि तप से सिद्धि मानकर इनका खुल्मखुल्ला प्रयोग किया जाता था। भगवान् महावीर ने इन दोनों को ही सजीव माना है। टीकाकार शीलांकाचार्य के अनुसार, 'अग्नि की सजीवता तो स्वयं ही सिद्ध है। उसमें प्रकाश व उष्णता का गुण है। जो कि सचेतन में होते हैं। साथ ही अग्नि वायु के अभाव में जीवित भी नहीं रह सकती है।²¹ स्नेह, काष्ठ आदि का आहार लेकर बढ़ती है, आहार के अभाव में घटती है। यह सब उसकी सजीवता के स्पष्ट लक्षण है। भगवती सूत्र में भी इसकी पुष्टि की गई है।²²

वनस्पतिकाय की सचेतनता बताने के लिए मनुष्य शरीर के साथ तुलना करते हुए कहा है कि 'जैसे अपना शरीर उत्पन्न होता है, वैसे यह वनस्पति भी उत्पन्न होती है। अपना शरीर बढ़ता है तो वनस्पति में भी वृद्धि होती है। अपने शरीर में चैतन्य है तो यह भी चैतन्यवान् है। अपने शरीर को छेदने से वह कुम्हला जाता है, उसी प्रकार यह भी छेदने से कुम्हला जाती है। जिस प्रकार अपने शरीर को आहार चाहिये, उसी प्रकार वनस्पति को भी आहार की आवश्यकता होती है। अपना शरीर अनित्य, अशाश्वत है, तो वनस्पति भी अनित्य-अशाश्वत है। अपना शरीर घटता-बढ़ता है तो यह भी घटती बढ़ती है। अपना शरीर अनेक विकारों को प्राप्त करता है, वैसे ही यह भी विकारों से ग्रसित होती है।²³ यहाँ वनस्पति की सचेतनता का उल्लेख स्पष्ट रीति से किया गया है। ज्ञानयुक्त मनुष्य की भांति इसमें भी ज्ञान होता है क्योंकि धात्री, प्रपुन्नाट (लाजवन्ती) आदि वृक्षों में सोना जागना पाया जाता है।²⁴ अपने नीचे जमीन में गाड़े हुए धन की रक्षा के लिए ये अपनी शाखा फैलाते हैं।²⁵ वर्षाकाल में मेघस्वर से तथा शिशिर ऋतु की वायु से इनमें अंकुर उत्पन्न होते हैं। अशोक वृक्ष के पल्लव और फूल की उत्पत्ति कामदेव के संसर्ग से स्थलित गतिवाली, चपल नेत्र वाली सोलह शृंगार सजी हुई युवती अपने नूपुर के शब्दायमान सुकोमल चरण से स्पर्श करती है, तब होती है। बकुल वृक्ष का विकास सुगंधित मद के कुल्ले के सिंचन से होता है। लाजवन्ती वृक्ष हाथ के स्पर्श मात्र से संकुचित हो जाता है।²⁶ क्या ये सब क्रियाएँ ज्ञान के अभाव में संभव हो सकती हैं? सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु ने भी संसार में वनस्पति में चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया है। उन्होंने अपने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि वनस्पति में भी क्रोध, प्रसन्नता, राग, मोह आदि भाव निहित है। उनकी तारीफ करने पर वह हास्य प्रकट करती है और गाली देने पर तथा निंदा करने पर क्रोधित होती दृष्टिगत हुई है। इस प्रकार वैज्ञानिक युग में वनस्पति की चेतनता के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

निष्कर्षतः जैन चिंतन आत्मा की स्वयं सिद्धता, अनिर्वचनीयता पर प्रमुख रूप से निर्धारित है। जीव आत्मा या चेतना की सत्ता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होने पर भी यहाँ विवादास्पद नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. टाणं : 2.1.1
2. आचाराङ्ग : 15
3. सूत्रकृताङ्ग : 2.5
4. आचाराङ्ग : 1.6.6
5. आचाराङ्ग : 1.3
6. आचाराङ्ग : 1.4
7. केशव मिश्र : तर्क भाषा, पृ. 148
8. सांख्य कारिका : 19-20
9. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 18
10. सांख्य कारिका : 17
11. आचाराङ्ग : 1.2.12
12. ब्रह्म सूत्र : शांकर भाष्य : 3.2.18
13. आचाराङ्ग : 1.2.13
14. आचाराङ्ग : 1.3.21
15. आचाराङ्ग : 1.4.29
16. आचाराङ्ग : 1.7.60-61
17. आचाराङ्ग : 1.5.42-44
18. आचाराङ्ग : 1.2.16
19. श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 346
20. आचाराङ्ग : 1.3.25
21. आचाराङ्ग : 1.1.14
22. भगवती : शतक 6
23. आचाराङ्ग : 1.5.45
24. षड्दर्शन समुच्चय श्लोक 47-48
25. समराइच्च कहा, तइओ भव, पत्रांक 171
26. षड्दर्शन समुच्चय श्लोक 47-48

भगवान् महावीर का तप साधना

डॉ. देवाश्रय प्रसाद सिंह*

श्रमण भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्षों तक अपने आत्मा की दिव्य साधना की। सुख, समृद्धि व वैभवगत आसक्तियों को त्याग कर अकिंचिन बन से सत्य की साधना में निरन्तर लीन रहे। उनका दिव्य एवं भव्य संयमी जीवन साधनामय जीवन का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस जीवन का प्रत्येक पृष्ठ समता, सहिष्णुता, परदुःखकातरता, त्याग, तपस्या, ध्यान और अभय की भावना से ओत-प्रोत था। उन्होंने यह दीर्घ साधना-काल मौन आत्म-चिन्तन, आत्म-पर्यालोचन, उग्र ध्यान एवं उत्कट संयम की आराधना में व्यतीत किया।

इस साधना-काल में उन पर अनेक विपत्तियाँ एवं उपसर्ग आये। प्राकृतिक, मानवीय व दैवी संकटों के प्राणघातक तूफान प्रलयकाल की तरह घिर-घिर कर आये पर वर्द्धमान में अदम्य साहस, अपराजेय संकल्प व आत्म-बल के सहारे उनका हट कर मुकाबला किया। उन्होंने अपूर्व कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा का आदर्श उपस्थित किया। त्याग और तपस्या की साधना का इस प्रकार का आदर्श मानव-समाज में और मिलना दुर्लभ है। उनके सम्बन्ध में शास्त्रों में कहा है— “उगं च चवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स”¹ अर्थात् अन्य तीर्थङ्करों की अपेक्षा वर्द्धमानप का तप विशेष उग्र था।

उनके साधना-काल का रोमांचकारी वर्णन आचारांगसूत्र², प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्याय में मिलता है। गणधर सुधर्मा स्वामी ने उनकी साढ़े बारह वर्ष की साधनाचार्या का बड़ा सजीव, रसप्रद और हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्याग के कठिन नियमों का परिपालन, अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव, निःस्पृहता, शारीरिक अनासक्ति, विचन ध्यान, योग और अन्तर्लीनता मुखरित है। उस साधनाचार्य का कुछ अंश यहाँ पर प्रस्तुत है।

अचेलक अणगार — दीक्षा लेने के समय महावीर के शरीर पर एक श्वेत वस्त्र (देव दूष्य) था। तेरह महीनों के बाद अचेल परिषद के आमन्त्रण रूप में उन्होंने उसे भी त्याग दिया। सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के सभी कष्टों को उन्होंने सहन किया। भयंकर सर्दी में भी खुले ही ध्यान करते थे।

*व्याख्याता, प्राकृत विभाग, वर्द्धमान महावीर कॉलेज, पावपुरी, नालन्दा

